RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-03
Issue-03
March-2018

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

पूँजीपति वर्ग का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका

अखिलेन्द्र कुमार रंजन

शोधार्थी, विश्वविद्यालय इतिहास–विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

ARTICLE DETAILS

Article History

Published Online: 30 March 2018

Keywords

पूँजीपति वर्ग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन

ABSTRACT

उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से भारतीय पूँजीपति वर्ग धीरे–धीरे परिपक्व होने लगे थे और राजनीति में भी अपना प्रभुत्त जमाने लगे थे। पहले विश्वयुद्ध के अंत तक, विभिन्न कारणों से, पंजीकृत ओद्योगिक उद्यमों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। किंतु एक विस्तारित सामाजिक आधार से आए भारतीय उद्योगपतियों की नई पीढ़ी अधिक परिपक्व और अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए वे स्वयं को संगठित करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप 1887 में बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स आरै 1907 में बंबई में इंडियन मर्चेट्स चैंबर का जन्म हुआ। बंबई के व्यापारी समूहों में सौदागर जहाँ अधिक राष्ट्रवादी थे, वहीं उद्योगपति सरकार के परंपरागत सहयोगी थे। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ उद्यागे पति फले–फलू, वहीं विनिमय दरों के उतार–चढ़ाव और भारी करों के कारण सौदागरों को हानि पहुँची।

प्रस्तावना :

औपनिवेशिक शासन के दौरान 19वीं सदी के मध्य में भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ, लेकिन भारतीय पूँजीपति विदेशी पूँजी की बैशाखी पर नहीं चल रहे थे और न ही वे विदेशी पूँजीपतियों के स्थानीय एजेंट थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से भारतीय पूँजीपति वर्ग धीरे–धीरे परिपक्व और राजनीति में प्रभावशाली होने लगा था। पहले विश्वयुद्ध के अंत तक, विभिन्न कारणों से, पंजीकृत औद्योगिक उद्यमों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। भारतीय पूँजीपतियों ने कई क्षेत्रों में यूरोपीय एकाधिकार को तोड़कर और विदेशी आयात के बदले स्वदेशी का हिस्सा बढ़ाकर एक साधारण से औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया। 1920 के बाद नए क्षेत्रों में ज्यादातर पूँजी–निवेश भारतीय पूँजीपतियों का ही था। 1944 तक एक हजार से अधिक मजदूरों वाली बड़ी औद्योगिक ईकाइयों में लगभग 62 प्रतिशत पर और उनके श्रम–बल के 58 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का नियंत्रण था। छोटे कारखानों में भी, जिनका औद्योगिक क्षेत्र में भाग 95.3 प्रतिशत था, भारतीय पूँजी का निरपेक्ष नियंत्रण था। यह विकासक्रम तब हुआ जब भारतीय पूँजी ने अभी तक विदेशी पूँजी द्वारा अविकसित क्षेत्रों में प्रवेश किया, जैसे शक्कर, कागज, सीमेंट, लोहा और इस्पात आदि में। भारतीय पूँजी उन क्षेत्रों में भी जा पहुँची, जिन पर अभी तक विदेशी पूँजी का कब्जा था, जैसे वित्त, बीमा, जूट, खदानों और बागान में। आजादी के आसपास हालात यह हो गए थे कि देशी बाजार पर 72–73 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का ही नियंत्रण था। संगठित बैंकिंग क्षेत्र की कुल जमाराशि का 80 प्रतिशत भारतीय उद्यमियों का था।

भारतीय उद्योगीकरण में यह असामान्य प्रगति, उपनिवेशवाद की सहज परिणति नहीं थी, बल्कि उसके बावजूद हुई थी। भारतीय उद्योगपतियों की पिछली पीढ़ी विदेशी पूँजी पर बहुत अधिक निर्भर थी और वह औपनिवेशिक सत्ता का प्रभुत्व तथा उसकी भदे भावपूर्ण नीतियों को मानने के लिए तैयार थी। किंतु एक विस्तारित सामाजिक आधार से आए भारतीय उद्योगपतियों की नई पीढ़ी अधिक परिपक्व और अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए वे स्वयं को संगठित करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप 1887 में बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स और 1907 में बंबई में इंडियन मर्चेट्स चैंबर का जन्म हुआ।

राजनीति दृष्टिकोण से पूँजीपति वर्ग– साम्राज्यवाद के सापेक्ष राष्ट्रवाद के प्रति भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण के सवाल पर इतिहासकारों में मतभेद है। एक ओर कुछ इतिहासकार मानते हैं कि साम्राज्यवाद के साथ एक अल्पकालिक निर्भरता और तालमेल का संबंध बनाए रखकर भी उसके साथ भारतीय पूँजीपति वर्ग का एक दीर्घकालिक अंतर्विरोध विकसित हुआ। बाद में पूँजीपति साम्राज्यिक शोषण के अंत और एक राष्ट्र–राज्य के जन्म की कामना करने लगे, पर उनकी ढाँचागत कमजोरियों और उपनिवेशी सरकार पर उनकी निर्भरता ने उनसे समझौते के साथ दबाव के समन्वय की विवेकपूर्ण रणनीति मनवाई। वे एक राष्ट्रवादी आंदोलन के पक्ष में थे, लेकिन सुरक्षित और स्वीकार्य सीमाओं के अंदर, अतिवादी वामपंथियों के मार्गदर्शन में नहीं, बल्कि दक्षिणपंथी, नरमपंथियों के भरोसेमंद हाथों में। वे लागे संगठित मजदूरों, अतिवादी वामपंथ और जन–आंदोलन से डरते थे। किंतु इनसे सुरक्षा पाने के लिए उन्होंने साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण नहीं किया। उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन को संविधानवाद की राह पर लाने के लिए, दक्षिणपंथियों को संरक्षण देने और इस तरह कांग्रेस को 'पूँजीवादी वैचारिक वर्चस्व' में ढालने के लिए एक वर्गीय रणनीति का विकास किया।

पूँजीपतियों को एक सुस्पष्ट साम्राज्यवाद–विरोधी विचारधारा से युक्त एक परिपक्व वर्ग मानने वाले इस

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

दृष्टिकोण के विपरीत कुछ इतिहासकार समझते हैं कि राजनीतिक दृष्टि से भारत के व्यापारी समूह बहुत बड़ी सीमा तक निष्ठावान थे। कहा गया है कि बंबई के व्यापारी समूहों में सौदागर जहाँ अधिक राष्ट्रवादी थे, वहीं उद्योगपति सरकार के परंपरागत सहयोगी थे। लेकिन राष्ट्रवाद आरै कांग्रेस के प्रति भारतीय व्यापारियों के विभिन्न समूहों के राजनीतिक रवैयों में लंबे समय तक तालमेल और परिवर्तन भी दिखाई देता है। जहाँ तक उपनिवेशी अधिकारियों का सवाल है, भारतीय व्यापारी एक ही समय में 'सहयोग और विरोध' दोनों कर रहे थे और इसलिए उनके दृष्टिकोण का सुस्पष्ट 'सामान्यीकरण' करना संभव नहीं है। दरअसल उद्यागे पतियों की राजनीति, मुद्दों के जन्म लेने के समय उनके प्रति एक 'व्यवहारवादी दृष्टिकोण' से संचालित होती थी तथा वे (उद्योगपति) कांग्रेस और सरकार से 'समान दूरी' बनाए रखकर, इनमें से दोनों को दुश्मन बनाने या विमुख करने के डर से किसी की ओर भी झुकने से बचते रहते थे। इसलिए एक 'पूँजीवादी महारणनीति' की बात करना अतिशयोक्ति होगा। इस प्रकार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय व्यापारी शायद ही एक 'निज–हेतु–वर्ग' (क्लास फॉर इटसेल्फ) थे। वे एक साथ नहीं चलते थे, उनके हित अलग–अलग थे, उनके विचारों में टकराव और रणनीतियों में अंतर्विरोध थे। इसलिए किसी सुसंगठित पूँजीवादी विचारधारा की या राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद के प्रति किसी राजनीतिक रणनीति की स्पष्ट पहचान करना संभव नहीं है।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ उद्यागे पति फले–फूले, वहीं विनिमय दरों के उतार–चढ़ाव और भारी करों के कारण सौदागरों को हानि पहुँची। दिसंबर 1920 में रुपया लुढ़क गया, जिसके कारण भारतीय आयातकों के लिए पिछले अनुबंधों पर लगभग 30 प्रतिशत के घाटे का खतरा पैदा हो गया, लेकिन इससे भारतीय निर्यातकों और मिल–मालिकों को लाभ मिला। युद्धकालीन भारी करों से सभी प्रभावित थे, लेकिन आयकर कानून में किए गए विशेष परिवर्तनों से देशी संयुक्त परिवारों के व्यवसायों को चोट पहुँची, क्योंकि उनकी लेखा–प्रणाली नए कानून के अंतर्गत आयकर के ब्यौरों को जमा करने की जरूरतों से मेल नहीं खाती थी। यद्यपि सरकार की कर और मुद्रा–संबंधी नीतियों से मारवाड़ी और गुजराती व्यापारी दुःखी थे, किंतु उद्योगपति और बड़े व्यापारी इस बारे में कम चिंतित थे, क्योंकि सरकार भी उनका समर्थन पाने की जी–तोड़ कोशिशें कर रही थी। 1919 के मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार ने हितों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू की और इस प्रकार मजदूरों के साथ भारतीय उद्योग को भी केंद्रीय और प्रांतीय विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व दिया इसके अलावा, 1919 की वित्तीय स्वतंत्रता संविदा (फिस्कल आटोनॉमी कन्वेंशन) और 1922 के बाद 'सरं क्षणमूलक भदे भाव' की एक नीति के वादे ने संरक्षणवादी शुल्कों (टैरिफ्स) के लागू किए जाने की आशा जगाई। इसलिए जब गांधीवादी जन–राष्ट्रवाद का आरंभ हुआ, तो उसके प्रति भारत के व्यापार–जगत की मिली–जुली प्रतिक्रिया रही।

गांधीवादी राजनीति की ओर झुकाव– कुछ मारवाड़ी और गुजराती सौदागर और नए उद्यमी, जो बहुत अधिक धार्मिक थे, गांधीजी की ओर बहुत झुक गए क्योंकि उनमें उन्हें जनै आरै वैष्णव दशर्न का साझा आधार मिला। अहिंसा पर उनका बल किसी भी तरह के राजनीतिक गरमपंथ के मुकाबले आश्वस्त करता था और उनका 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत संपत्ति को वैध ठहराता था। इस तरह गांधीवादी विचारधारा भले ही पूँजीवादी हितों पर आधारित न हो, उसकी कुछेक धारणाएँ इन सौदागरों और उद्यमियों के लिए आकर्षक थीं। इस कारण गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उन्होंने सहर्ष यागे दान किया तथा घनश्यामदास बिड़ला और जमनालाल बजाज जैसे कुछ बड़े उद्योगपति उनके घनिष्ठ सहयोगी बन गए। यद्यपि अहमदाबाद के अंबालाल साराभाई जैसे मिल–मालिक 1918 की मजदूर–हड़ताल के दौरान गांधी की नेतृत्व–शैली से पूरी तरह खुश नहीं थे, फिर भी, भारतीय व्यापारियों को लगता था कि कांग्रेस को पूँजीवाद विरोधी बनने से केवल वे ही रोक सकते हैं।

1919 में जब रोलट एक्ट–विरोधी सत्याग्रह शुरू हुआ तो उद्यागे पति सशंकित रहे, लेकिन बंबई के व्यापारियों ने गांधी का जमकर समर्थन किया। अप्रैल में जब गांधी गिरफ्तार किए गए, तो बंबई में उद्योगों में हड़ताल रही। असहयागे आंदाले न शुरू हुआ तो कपास के सौदागरों ने बहिष्कार आंदोलन का फिर समर्थन किया और तिलक स्वराज्य कोष में जमकर दान दिया। लेकिन दूसरी ओर अनेक उद्योगपति शांत रहे या जन–आंदोलन का सीधे–सीधे विरोध करते रहे। यही नहीं, बंबई में पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और आर.डी. टाटा ने एक असहयोग–विरोधी समिति का गठन भी कर लिया।

व्यापारी समुदाय में विभाजन बंबई में सर्वाधिक स्पष्ट था, जहाँ इंडियन मर्चेंट्स चैंबर पर उद्योगपतियों के वर्चस्व को दो बार चुनौती मिली; पहली बार 1920 में कौंसिलों के बहिष्कार के प्रश्न पर और दूसरी बार 1921 में भारत आनेवाले प्रिंस ऑफ वेल्स को मानपत्र पेश करने के प्रश्न पर, जबकि कांग्रेस उसका बहिष्कार करना चाहती थी। स्पष्ट है कि सौदागर कांग्रेस के साथ थे और कांग्रेस को भी उनके समर्थन की जरूरत थी, क्योंकि उनके बिना बहिष्कार आंदोलन के सफल होने की संभावना कम ही थी।

लेकिन 1922 के बाद बिगड़ती आर्थिक दशाओं के कारण भारतीय व्यापारी समुदाय के प्रायः सभी हिस्से, सभी उद्यागे पति, राष्ट्रवाद की आरे कुछ और आकर्षित हुए। युद्धकालीन तेजी 1921–22 में समाप्त हो गई और 1920 के पूरे दशक के दौरान मंदी छाई रही। माल बिक नहीं रहे थे और उनके बड़े–बड़े भंडार अनबिके मालों से भरे थे, तो उधर मजदूरी भी बढ़ रही थीं। आयातित धागों पर निर्भरता के कारण और लगभग उन्हीं दिनों भारतीय बाजारों में सस्ते

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

जापानी मालों की बढ़ती प्रतियोगिता के कारण दाम आरै नीचे गिरने लगे, जिससे बंबई के सूती कपड़ा मिल–मालिकों की स्थिति बदतर हो गई। 1920 और 1923 के बीच सूती मिलों के शेयरों के दाम तेजी से लुढ़के जिससे अनेक उद्योगपतियों को घबराहट होने लगी। कपास पर 3.5 प्रतिशत आबकारी (इक्साइज ड्यूटी) के उन्मूलन के लिए उद्यागे पतियों ने विधायिका में स्वराज्यवादियों से हाथ मिला लिया। दिसंबर 1925 में आबकारी समाप्त कर दी गई, लेकिन सूती मिल–मालिकों की समस्या दूर नहीं हुई; 1926 में 11 मिलें बंद हो गईं और 13 प्रतिशत मजदूर बेरोजगार हो गए। जनवरी 1927 में 'भारतीय शुल्क बोर्ड' की एक बहुमत की रिपोर्ट ने धागे छोड़ सभी सूती मालों पर आयात शुल्क को 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत करने की सिफारिश की, लेकिन लंकाशायर के उग्र विरोध के कारण भारत सरकार ने इस निर्णय को स्थगित रखा।

1920 के दशक के दौरान लंदन के दबाव के कारण न केवल भारत सरकार भारतीय उद्योगपतियों की आर्थिक समस्याओं के प्रति संवदे नहीन थी, बल्कि कलकत्ता और बंबई, दोनों जगह विदेशी पूँजी के साथ उनके संबंध भी धीरे–धीरे बिगड़ रहे थे। दरअसल 1919 के सुधारों के बाद से ही अपने नस्ली अलगाव और अपनी स्वतंत्रता पर अड़े हुए ब्रिटिश पूँजीपतियों के रवैये अपने भारतीय बंधुओं के प्रति कड़े हाने लगे थे, क्योंकि वे भारतीय राजनीतिज्ञों को या उद्योगपतियों को कोई भी छटू देने के पक्ष में नहीं थे।

1921 में यूरोपीय व्यापारी संगठनों ने 'एसोसिएटेड चंबै र्स ऑफ कॉमर्स' नाम से एक शीर्ष सगठन का गठन किया, इसके जवाब में भारतीय पूंजीपतियों ने 1927 में अपना एक संगठन 'फिक्की' (एफ.आई. सी.सी.आई.) बनाया, जिसके अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास थे। अब पूँजीपतियों ने अपने आर्थिक हितों के लिए राजनीति में घुसकर सक्रिय भूमिका निभाने का फैसला किया। फिक्की के दूसरे अधिवेशन (1928) में अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ने घोषणा की कि, ''हम अब अपनी राजनीति को अर्थनीति से अलग नहीं रख सकते।.....भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए हैं। राष्ट्रीय आंदोन जितना विकसित और मजबूत होगा, उसी के अनुपात में भारतीय वाणिज्य और व्यापार भी विकसित और मजबूत होगा।'' बाद में 1930 में घनश्यामदास बिड़ला ने भी यही बात दाहे राई। अब धीरे–धीरे भारतीय पूँजीपतियों ने अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करना शुरू कर दिया, यहाँ तक कि असमान उत्पादकता वाले देशों के बीच व्यापार के बारे में विनिमय असंतुलन बात भी उठाई। इस चरण में कई कारणों से कांग्रेस और व्यापारियों की निकटता बढ़ी। एक, 1929 की भयंकर आर्थिक मंदी ने जब भारत का दरवाजा खटखटाया, तो ब्रिटिश सरकार ने अपनी खराब वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए मार्च 1930 में कपास संरक्षण कानून (कॉटन प्रोटेक्शन ऐक्ट) में कपास–संबधी कर 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया, वह भी केवल गैर–ब्रिटिश मालों के लिए। जिससे पूँजीपति वर्ग नाराज होकर विद्रोह पर उतारू हो गए।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि साम्राज्यिक प्राथमिकता की इस व्यवस्था से भारतीय उद्योगपति नाराज हो गए और राष्ट्रवादियों ने उसका व्यापक विरोध किया; बिड़ला व ठाकुरदास समेत कई ने तो विधायिका से ही त्यागपत्र दे दिया। दूसरे, सरकार ने मनमाने ढंग से रुपए और स्टर्लिंग की विनिमय दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर तय कर दिया, जिसकी सिफारिश 1926 के हिल्टन–यंग आयोग ने की थी। यह ऊँची दर भारतीय आयातकों के विरुद्ध और भारत को निर्यात करने वाले अंग्रेजों के पक्ष में थी। तीसरे, सितंबर 1931 में ब्रिटेन स्वर्णमान (गोल्ड स्टैंडर्ड) से अलग हो गया, लेकिन रुपया 1 शिलिंग 6 पेंस की दर से स्टर्लिंग से ही बँधा रहा। इससे बाहर जानेवाले सोने से ब्रिटेन को मदद मिली, लेकिन भारतीय हितों को कोई लाभ नहीं हुआ। व्यापारी समूह भारत की आर्थिक बहाली के लिए 1 शिलिंग 4 पेंस की कम दर की माँग कर रहे थे और 1926 में गांधी और पटेल के आशीर्वाद से बंबई में एक मुद्रा लीग का गठन हुआ था। इस प्रकार, मुद्रा–संबंधी प्रश्न सरकार के विरुद्ध व्यापारियों और कांग्रेस को एक मंच पर और भी निकट ला रही थी।

संदर्भ :

1. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडियाः ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डीत्रि पाठी
2. आदित्य मुखर्जी 1986, दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास : आस्पेक्टस् ऑफ इटस् इकोनॉमिक, पॉलिटिकल एंड आइडियोलॉजिकल डवलपमेटं इन दि कॉलोनियल पीरियड, 1927–47, इन सिटुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर
3 बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
4 बिपिन चन्द्र 1979, नेशनलिज्म एंड कॉलोनियलिज्म इन मॉडर्न इंडिया
5 बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939
6 ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933
7 रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडियाः ग्रोथ एंड कॉन्फलिक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914–47

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

8 द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडियाः ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डीत्रि पाठी
9. ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्सः राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933
10. एस. भट्टाचार्य, 1986, दि कॉलोनियल स्टेट, कैपिटल एंड लेबर, बॉम्बे, 1919–1931, इन सिटुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर
11. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायरः लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939
12. रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडियाः ग्रोथ एंड कांफ्लिक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914–47
13. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडियाः ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी
14. एस. भट्टाचार्य, 1976, कॉटन मिल्स एंड स्पनिंग हवील्सः स्वदेशी एंड दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास, 1920–22, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली
15. ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933, पृष्ठ 176।
16. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939

© RRIJM 2015, All Rights Reserved